स्वप्न

[काश्मीर में रचित एक खण्ड-काव्य]



रचयिता

रामनरेश त्रिपाठी



प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग



पहला संस्करण } होली, १९८५ { मूल्य आठ आना

मेरे मित्रों का, सुरयत मेरे स्नेहभाजन चि० श्रीगोपाल नेवटिया का बहुत दिनों से यह आग्रह था कि मैं 'मिलन' और 'पथिक' के पश्चात् पद्य में कोई एक कथा और लिख दूँ। मैं भी किसी अच्छे सुयोग की प्रतीक्षा कर रहा था। यकायेक, स० १९८५ के ग्रीष्म में गोपालजी के साथ काश्मीर-यात्रा का सुअवसर मुझे मिल ही गया। गोपालजी का आग्रह तो वर्षों से चल ही रहा था, काश्मीर में मेरे मित्र श्रीयुत सीतारामजी खेमका ने भी अनुरोध किया कि यहीं कुछ लिखकर अपनी काश्मीर यात्रा को चिरस्मरणीय बना जाओ। इससे उत्साहित होकर मैंने यह 'स्वप्न' प्रारंभ किया था।

जेठ के दशहरे के दिन से स्वप्न का आरम्भ हुआ और लगातार पन्द्रह दिनों तक पहलगाँव (काश्मीर) में, हिम-पर्वतों से घिरे हुये, हरित पुष्पित-सुरभित सघन वन से अलंकृत एक अन्तराल में, चाँदी की धारा के समान उज्ज्वल और

प्रखर प्रवाहित नाले के तट पर, तम्बू में रहकर, तथा गुलमर्ग में मैंने इसे पूर्ण किया। पहले इसे कई प्रकार के छन्दों में लिखने का विचार था, और दूसरा सर्ग मैंने भिन्न छन्द में लिखा भी था। पर अंत में पाँचो सर्ग एक ही छन्द में कर दिये।

'पथिक' मेरी दक्षिण-यात्रा का स्मृति चिन्ह है और यह 'स्वप्न' उत्तर-यात्रा का। इसमें मैंने आजकल के नवयुवकों के दुविधामय हृदय को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। आजकल एक ओर तो देश का दुःख-दैन्य करुण रस उत्पन्न कर रहा है, दूसरी ओर सौन्दर्य, श्रृङ्गार और सुख के लिये प्रकृति का प्रोत्साहन है। नवयुवकों का मार्ग श्रृङ्गार और करुण रस के बीच का है। शुद्ध हृदय के लिये दोनों ओर प्रबल आकर्षण है। किधर जाना चाहिये? इस समस्या को हल करने के लिये ही मैंने यह स्वप्न तैयार किया है। इससे इसमें दो परस्पर-विरोधी रसों का मिश्रण हो गया है।

मैं प्रकृति का पुजारी हूँ। इससे प्रकृति के प्रति मेरा आन्तरिक अनुराग 'पथिक' की तरह इसमें भी जहाँ-तहाँ उमड़ पड़ा है। काश्मीर में जिन जिन प्राकृतिक दृश्यों ने मुझे लुभा लिया था, उनका वर्णन मैंने इसके अनेक पद्यों में किया है। फिर भी उन दृश्यों से जितना सुख मैंने अनुभव किया

था, उसे पूर्ण रूप से उँड़ेल देने में मैं सफल नहीं हुआ हूँ। और बिना काश्मीर गये उनकी सरसता पाठकों की समझ में भी अच्छी तरह नहीं आ सकेगी। तो भी स्मृति और कल्पना का आनन्द तो उठाया ही जा सकता है।

मैं कवि नहीं। कवि होता तो मैं सचमुच बहुत सुखी होता। पर सत्कवियों का सेवक और सुकविता का अनुरागी अवश्य हूँ। आजकल प्रसाद, हरिऔध और गुप्त जैसे अमृत निर्झरों के होते हुये मैं जो अपनी तुकबन्दियों का यह भार हिन्दी कविता के प्रेमियों के सिर पर रखने चला हूँ, यह मेरी धृष्टता है। पर मैंने स्वजनों का अनुरोध पालने के लिये ही इसे लिखा है। अतएव सुकवि और साहित्य-रसिक सहृदयजन इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करेंगे।

ईश्वर से विनय है कि मेरा यह स्वप्न कभी सत्य हो।

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग — रामनरेश त्रिपाठी

होली, १९८५

स्वप्न

पहला सर्ग

[१]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[२]

हरित तलहटी में गिरिवर की
समतल निर्झर-ध्वनित धरा पर।
छाया में अति सघन द्रुमों की
बैठ विशद हरिताभ शिला पर॥
जाता हूँ मैं भूल जगत को
बार-बार अनिमेष देखकर।
रूपगर्विता प्राणप्रिया के
यौवन-मद-विह्वल दृग सुन्दर॥

[३]

किन्तु उसी क्षण क्षुधा निपीड़ित
शिशुओं के क्रन्दन से कातर।
कहीं जीविका की तलाश में
गये हुये प्रियतम के पथ पर।
लगे हुये निज दीन देश के
अगणित नेत्र आँसुओं से तर
आ जाते हैं दौड़ सामने
ले जाते हैं सब उमंग हर

[४]

प्रेम-निशा में स्मृति निद्रा-वश
प्रियम्वदा की पृथुल जाँघ पर।
सिर रख सोते ही क्षण भर में
दृग उठ पड़ते हैं अकुलाकर॥
लेटे ही लेटे अचरज से
देख उदित अति निकट मनोभव* ।
हाथ फेर जो सुरज पाता हूँ
यह क्या है सुरपुर में सम्भव ?

[५]

किन्तु उसी क्षण यह निर्धन जो
रुदित जानुओं से उर ढककर।
टाँगें क्षीण भुजाओं से कस
पुत्र कलत्र समेत भूमिपर॥
देख परस्पर विता रहा है
आँखों में हिम-निशा भयङ्कर।
आता है सहसा स्मृति पट पर
जाता है सब सुख समेटकर॥

---

* मनोभव=चन्द्रमा ।

[६]

चारु चन्द्रिका से आलोकित
विमलोदक सरसी के तट पर।
सौरभगन्ध से शिथिल पवन में
कोकिल का आलाप श्रवण कर॥
और सरक आती समीप है
प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि।
हृदय द्रवित होता है सुनकर
शशि-कर छूकर यथा चन्द्रमणि॥

[७]

किन्तु उसी क्षण भूख प्यास से
विकल वस्त्र-वञ्चित अनाथ-गण।
'हमें किसी की छाँह चाहिये'
कहते चुनते हुये अन्नकण॥
आजाते हैं हृदय-द्वार पर
मैं पुकार उठता हूँ तत्क्षण।
हाय! मुझे धिक् है जो इनका
कर न सका मैं कष्ट-निवारण॥

[८]

मुझे ध्यान में निरत देखकर
वह गुलाब का फूल तोड़कर।
मुँह पर मार खिलखिला उठती
मैं तत्काल भुजाओं में भर॥
बार-बार चुम्बन करता हूँ
उससे जो लालिमा उमड़कर।
निकल कपोलों पर आती है
क्या है वैसी उषा मनोहर?

[९]

किन्तु उसी क्षण वे दुखिया-गण
जिनके कुम्हलाये अधरों पर।
हास्य किली दिन खेल न पाया
अथवा जिनके गिरे-पड़े घर॥
तेल विना दीपक-दर्शन से
वञ्चित रहे एक जीवन भर।
अपना दृश्य दिखाकर मेरा
ले जाते हैं हर्ष छीनकर॥

[१०]

मेरे कंधे को कपोल से
दाब विमल दर्पण के सम्मुख।
घंटों प्रेम-भरी आँखों से
देखा करती है मेरा मुख॥
घरमें के सन्निकट अकेले
मैं आँखों में उसकी वह छवि।
देखा करता हूँ, इस सुख का
वर्णन क्या कर सकता है कवि!

[११]

एक-एक कण जिसका होगा
घट-सम बढ़े ब्याज पर अर्पण।
ऐसी अन्न-राशि की सन्निधि
प्रमुदित हैं ऋण-ग्रस्त कृषक-गण॥
अद्भुत है उनके जीवन में
यह अनुराग विराग-विमिश्रण।
देख ध्यान में हो जाता हूँ
चकित विमोहित व्यथित उसी क्षण॥

[१२]

उमड़ घुमड़ कर जब घमंड से
उठता है सावन में जलधर।
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे
झूला करते हैं प्रतिवासर॥
तड़ित प्रभा या घन-गर्जन से
भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर।
वह भुजबन्धन कस लेती है
यह अनुभव है परम मनोहर॥

[१३]

किन्तु उसी क्षण वह गरीबिनी
अति विषादमय जिसके मुँह पर।
घुने हुये छप्पर की भीषण
चिन्ता के हैं घिरे वारिधर॥
जिसका नहीं सहारा कोई
आजाती है दृग के भीतर।
मेरा हर्ष चला जाता है
एक आह के साथ निकलकर॥

[१४]

वन-विहार में वह उपवन के
कोने से प्रसून-दल लेकर।
दृष्टि फेंकती हुई शंकिता
हरिणी सी द्रुम लता गुल्म पर॥
चपल पदों से आ कहती है
सस्मित 'वेणी कस दो' प्रियतम!
पूर्व पुण्य से ही होता है
प्राप्त जगत में यह सुख अनुपम॥

[१५]

किन्तु उसी क्षण कोई मन में
कह उठता है—रे विमूढ़ नर!
उनका भी है ज्ञान तुझे जो
दिनभर श्रम करके जीवन भर॥
प्रातःकाल सदा उठते हैं
निराधार निर्धन नतमस्तक।
मैं अदृश्य की ओर देखने
लगता हूँ तब हाय! एकटक॥

[१६]

कभी छोड़ सुख-स्वप्न-मोहिता
शयिता दयिता को शय्या पर।
कुन्द-लता के निकट खड़े हो
उसके करके याद मनोहर—
भृकुटि विलास, सप्रेम विलोकन,
रसमय वचन, सदा विहसित मुख।
हो जाता हूँ हर्ष-विमोहित
इससे बढ़ क्या है जग में सुख ?

[१७]

किन्तु उसी क्षण यह उठता है
कर समाज-सेवा-व्रत-धारण।
मैंने किया जगत में इतने
आर्त्तजनों का कष्ट निवारण॥
इतनों के तमसावृत मन में
मैंने किया ज्ञान-अरुणोदय।
सोचूँगा क्या कभी ? अहो ! कब
होगा इस सुख का चन्द्रोदय ?

[१८]

जाता हूँ मैं जल-विहार को
तरणी में तरुणी को लेकर।
मैं खेता हूँ वह गाती है
बैठ सामने मनोमुग्धकर॥
लहरा उठता है भूतल पर
विस्तृत यह सुखमा का सागर।
लय हो जाता हूँ मैं उसकी
लय में विश्व-विलास भूलकर॥

[१९]

किन्तु उसी क्षण जग-अरण्य में
जो अज्ञान-तिमिर के कारण।
ज्ञान-ज्योति के लिये विफल हैं
ऐसे अगणित नर-नारी-गण॥
फिरने लगते हैं आँखों में
मैं न हुआ क्यों मार्ग-प्रदर्शक?
इस चिंता-वश तब लगता है
मुझको अपना जन्म निरर्थक॥

[२०]

खेल रही हैं जिन पर जल की
बूँदें मुक्ता सी द्युति धरकर।
ऐसे पत्र-पत्र से पुलकित
विमल सरोवर में नौका पर॥
कहते हुये पद्म से सुन्दर
ललना के हैं दृग मुख कर पद।
उसको रोमाञ्चित करने से
बढ़कर और कहाँ सुख की हद?

[२१]

एक बूँद जल घन से गिरकर
सरिता के प्रवाह में पड़कर।
'जाता हूँ मैं फिर न मिलूँगा'
यह पुकारता हुआ निरन्तर॥
चला जा रहा है आगे से
कैसा है यह दृश्य भयावह।
इस अस्थिर जग में क्या मेरे
लिये नहीं है चिन्तनीय यह?

[२२]

ऊँचे सीधे सघन इकट्ठे
विविध विटप अवली से शोभित।
चिड़ियों की चहचह से जाग्रत
झरनों से दिनरात निनादित॥
पर्वत की उपत्यका में है
कितना सुख! कितना आकर्षण!
शान्ति स्वस्थता बाँट रहा है
सतत जहाँ का एक-एक क्षण॥

[२३]

वहीं कहीं दूर्वा-दल-शोभित
कोमल समतल विशद धरा पर।
कस्तूरी मृग ने चर-चरकर
जिसको है कर दिया बराबर॥
बैठ प्रिया की मधुर गिरा में
उसके अन्तस्तल का सुन्दर।
चित्र देखकर मैं करता हूँ
उस पर निज सर्वस्व निछावर॥

[२४]

फिन्तु उसी क्षण वह जनता जो
स्वाभिमानगत पशुवत संतत।
अत्याचार सहन करती है
बिना किये प्रतिवाद मूकवत॥
आ जाती है दृग के आगे
रह जाता हूँ मन मसोस कर।
हाय! मुझे धिक् है जो इनकी
मनोव्यथा मैं सका नहीं हर॥

[२५]

पर्वत शिखरों का हिम गलकर
जल बनकर नालों में आकर।
छोटे बड़े चीकने अगणित
शिला-समूहों से टकराकर॥
गिरता, उठता, फेन बहाता,
करता अति कोलाहल 'हर हर'।
वीर-वाहिनी की गति से वह
बहता रहता है निशिवासर॥

[२६]

मानो जलदों के शिशुगण, दल
बाँध खेलते हुये परस्पर।
अति उतावलेपन से चलकर
गोल पत्थरों पर गिर गिर कर॥
उठने करने नृत्य विहँसते
तथा मनाते हुये महोत्सव।
सागर से मिलने जाते हैं
पथ में करते हुये महारव॥

[२७]

इनका बाल-विनोद देखते
हुये किसी तीरस्थ शिला पर।
सतत सुगंधित देवदारु की
छाया में सानन्द बैठकर॥
सिर धर हरि के पद्म-पदों पर
करके जीवन-सुमन समर्पण।
बना नहीं सकता क्या कोई
अपने को आनंद निकेतन?

[२८]

पर हरि के पद-पद्म कहाँ हैं?
क्या सरिता के सुन्दर तट पर?
नहीं। निराशा नाच रही है
जहाँ भयानक भूरि भेस धर॥
निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं
बैठे चिन्ता-मग्न दीन जन।
उनके मध्य खड़े हरि के
पद पंकज के मिलते हैं दर्शन॥

[२९]

मधुर प्रेम की कल्पलता के
दृष्टि पत्र की छाया का सुख।
अधरामृत का पान, विपञ्ची—
रव, राकाशशि सा विहसित मुख॥
नित मुकुलित यौवन का चिंतन
विरह-व्यथामय उर मिलनातुर।
छोड़ स्वर्ग में जाकर बैठे
पछताते होंगे विमूढ़ सुर॥

[३०]

जीवन भर अवलोकन करना
कुवलय-दल-नयनी का शशिमुख।
छूना उसका मृदुल कलेवर
मन में अनुभव करना रति-सुख॥
सुनना वचन, सूँघना मुख का
पवन मानकर सरसिज सौरभ।
इसीलिये क्या मिला हुआ है
यह मानव शरीर सुर-दुर्लभ?

[३१]

मैं हूँ, यह एकान्त जगह है,
जाग्रत नहीं एक भी है रव।
दृग मूँदे बैठा हूँ मानो
मेरे लिये सो रहा है सब॥
सुनी हुई पहले की उसकी
मधुर कंठ-ध्वनि श्रवण-सुखद अति।
गूँज रही है मन में अब भी
छूट नहीं सकती है संगति॥

[३२]

निर्मल नीरव निशीथिनी हो,
निद्रा-वश हो जब समस्त जग।
चन्द्रकला में नहा रहे हों
चारोंओर तुषार-धवल नग॥
जब केवल रह जाय श्रवण में
अपने एक हृदय की धड़कन।
तब उर-अन्तर-वासी हरि की
पद गति क्यों न श्रवण करता मन ?

[३३]

शैशव शिशिर निवृत्त देह में
निरख उठा है ऋतुपति-यौवन।
अंग-अंग पर लोट रहे हैं
मेरे लोभी भ्रमर विलोचन॥
यौवन की उत्तप्त दुपहरी
में विद्रुम* मरु-मार्ग अधर पर।
ऐसा है वह कौन पथिक-मन
होगा जो न तृषा वश कातर ?

---

* दो अर्थ—(१) मूँगा, (२) द्रुम=वृक्ष—रहित

[२४]

दुख से दग्ध ताप से पीड़ित
चिन्ता से मूर्च्छित मन से कृश।
श्रम से शिथिल मृत्यु से शंकित
विश्रम-वश कर पान विषय-विष॥
जग प्रपंच की घोर दुपहरी
में रे पथिक प्यास से विह्वल!
भक्ति-नदी में क्यों न नहाकर
कर लेता है जीवन-शीतल॥

[२५]

इसी तरह की अमित कल्पना
के प्रवाह में मैं निशिवासर।
बहता रहता हूँ विमोह-वश
नहीं पहुँचता कहीं तीर पर॥
रात दिवस की बूँदों-द्वारा
तन-घट से परिमित यौवन-जल।
है निकला जा रहा निरंतर
यह रुक सकता नहीं एक पल॥

[३६]

भोग नहीं सकता हूँ गृह-सुख
भूल नहीं सकता हूँ पर दुख।
अकर्मण्यता से डरता हूँ
जाता हूँ जब हरि के सम्मुख॥
जीवन का उपयोग न निश्चित
कर पाया दुविधा-वश अबतक।
यौवन विफल जा रहा है यह
जैसे शून्य-सदन में दीपक॥

[३७]

सुनता हूँ यह मनुज-देह है
इस रचना में अंतिम अवसर।
सेवा करके व्यथित विश्व की
मैं तर सकता हूँ भवसागर॥
पर जो विविध वासनायें हैं
जग में जो हैं अमित प्रलोभन।
इन से जग रचनेवाले का
है क्या कोई भिन्न प्रयोजन?

[३८]

मन कहता है, इस भूतल पर
सफल सुखों की नारी है निधि।
इस संसृति के संचालन को
नारी रचकर धन्य हुआ विधि॥
किन्तु वहीं कोई कहता है
नारी है इस जग का बन्धन।
जीव ब्रह्म के बीच आवरण
विरचा है विधि ने नारी-तन॥

[३९]

भोग रहा हूँ ज्ञान-दण्ड मैं
चित्त हो रहा है अति चंचल।
है यह मेरे पूर्व जन्म के
किसी विचित्र पाप का प्रतिफल॥
मुझ को शिक्षा मिली न होती
क्यों होता प्रतिभा का अभिनय।
बढ़ी न होती परिधि ज्ञान की
जग से हुआ न होता परिचय॥

[४०]

देश, समाज, मनुष्य-जाति के
कष्टों का करता क्यों सचय ?
मैं निश्चिन्त प्रकृत सुख का सब
भली भाँति लेता रस निश्चय ॥
सदा दूसरों के सुख दुख की
निष्फल चर्चा में रत रहकर।
कवि का सा कुत्सित जीवन मैं
क्यों व्यतीत करता हे ईश्वर !

[४१]

कैसे कहाँ किधर को जाऊँ
है क्या कोई मार्ग-प्रदर्शक ?
दृग-अचल से बुझा दिया है
नारी ने विवेक का दीपक ॥
इसी भाँति व्याकुल रहता था
युवक वसत सदा मन ही मन।
किसी विषय में चित्त न उसका
स्थिर रहता था कभी एक क्षण ॥

दूसरा सर्ग

[१]

अतिशय चपल रजत सम उज्ज्वल
निर्झर-तनया के तट-पथ पर।
युवक वसंत भाव-भारान्वित
दृग के अर्द्ध कपाट बन्द कर॥
विचरण में था निरत एक दिन
मन्द-मन्द धर चरण-कोकनद।
मानो द्रुम-दल-लसित शैल पर
क्षीर-कान्तिमय नूतन नीरद॥

[२]

सोच रहा था—भूतल पर यह
किसकी प्रेम कथा है चित्रित ?
अम्बर के उर में किस कवि के
हैं गंभीर भाव एकत्रित ?
किसकी सुख-निद्रा का मधुमय
स्वप्न-खण्ड है विशद विश्व यह ?
जग कितना सुन्दर लगता है
ललित खिलौनों का सा संग्रह !

[३]

बार-बार अङ्कित करता है
ऋतुओं में सविता किसकी छवि ?
मोहित होता है मन ही मन
देख-देख किसकी क्रीड़ा कवि ?
है वह कौन रूप या आकर
जिसके मुख की कान्ति मनोहर ?
देखा करती हैं सागर की
व्यग्र तरंगें उचक-उचक कर ?

[४]

घन में किस प्रियतम से चपला
करती है विनोद हँस-हँसकर ?
किसके लिये उषा उठती है
प्रतिदिन कर श्रृङ्गार मनोहर ?
मञ्जु मोतियों से प्रभात में
तृण का मरकत सा सुन्दर कर।
भरकर कौन खड़ा करता है
जिसके स्वागत को प्रतिवासर ?

[५]

प्रात काल समीर कहाँ से
उपवन में चुपचाप पहुँचकर।
क्या संदेश सुना जाता है
घूम घूम प्रत्येक द्वार पर ?
फूलों के आनन अचरज से
खुल पड़ते हैं जिसे श्रवण कर।
थामे नहीं हँसी थमती है
मुँह मुँदते ही नहीं जन्म भर॥

[६]

मारुत जिसके पास राजकर
फूलों से परिमल का लेकर।
जाता है प्रति दिवस, कहाँ वह
करता है निवास राजेश्वर?
किसके गान-यन्त्र हैं पक्षी
नभ, निकुञ्ज, सर में, पर्वत पर।
मधुर गीत गाते रहते हैं
इधर-उधर विचरण कर दिन भर॥

[७]

मैदानों की ओर घाटियों
के पथ से अविराम चपल-गति।
पवन घनों को हाँक रहा है
पा करके किस प्रभु की अनुमति॥
ढके हुये हैं गिरि-शिखरों को
प्रचुर तुहिन पय-फेन-राशि-सम।
शैल देख खिलखिला रहा है
मानो कोई दृश्य मनोरम॥

[८]

अति उत्तुंग ऊर्मिमय फेनिल
सिन्धु शापवश मानों जमकर।
हिम-पर्वत बन गया यकायक
तृण तरु गुल्म लता हैं जलचर॥
किसके चिन्ता-शमन अलौकिक
मधुर गान से कान लगाकर।
ज्ञान भूलकर निज तन का क्यों
है नीरव निस्तब्ध महीधर?

[९]

सत्पुरुषों के मनोभाव सा
सरल विमल निरलस कलरवमय।
अपनी ही गति में निमग्न है
धारागत उज्ज्वल फेनिल पय॥
पुष्प-भार से अवनत पौधों
से सुखप्रद सुवास सञ्चयकर।
आती हैं मारुत की लहरें
मन्थरगति से मनोव्यथा हर॥

[१०]

ये अति सघन सुपल्लव-शोभित
तरुवर शीतल छाँह बिछाकर।
सद्गृहस्थ-सम अतिथि के लिये
रहते हैं प्रस्तुत निशिवासर॥
खेतों में वन में प्रान्तर में
इतने लाल फूल हैं पुष्पित।
नार* लगाकर के वन वन में
मानो है अनार आनन्दित॥

[११]

इन्द्र-धनुष खेला करता है
झरनों से हिलमिलकर दिन भर।
तृप्त नहीं होते हैं दृग यह
दृश्य देख अनिमेष अवनि पर॥
होता है इस नील झील में
श्यामा का आगमन सुखद अति।
जलक्रीडा करते हैं तारे
लहरें लेता है रजनीपति॥

---

*नार=अग्नि। काश्मीर में आग के लिये 'नार' शब्द ही प्रचलित है।

[१२]

हरियाली में भाँति भाँति के
राशि-राशि हैं फूल विमिश्रित।
गिरि-समूह के अन्तराल में
विस्तृत वनस्थली है चित्रित॥
भ्रम होता है रंग विरंगी
हरित धरा को देख यकायक।
पुरुप-प्रिया को सूख रही हैं
ये मानो साड़ियाँ असंख्यक॥

[१३]

मैदानों में दूर-दूर तक
कितना आकर्षण है सञ्चित।
नहीं दृष्टि में भर सकता है
इतना है सौन्दर्य सङ्कुलित॥
संध्या आने ही वाली है
कैसा है यह समय मनोहर!
हिम शिखरों को सजा रहे हैं
सविता स्वर्ण मुकुट पहनाकर॥

[१४]

इस विशाल तरुवर चिनार* की
आति शीतल छाया सुखदायक।
चरण चूमने को आतुर सी
पहुँची है गिरि की काया तक॥
हिम शृंगों को छोड़ रही हैं
दिनकर की किरणें क्षण-क्षण पर।
तिरती हैं वे घन-नौका पर
नभ-सागर में विविध रूप धर॥

[१५]

मुदित सहस्र-रश्मि ने पकड़ा
चिर-सुहागिनी सन्ध्या का कर।
लौट रहा है मानो चेतन
जगत अशुधर को पहुँचाकर॥
पर्यों के अनुराग-डोर से
आकर्षित हो खग-पतग-चय।
वेगवत हैं नीड़-दिशा में
विविध रूप-ध्वनि-रग-ढग मय॥

---

* काश्मीर का सुप्रसिद्ध वृक्ष।

[१६]

ढोरों के पीछे चरवाहे
घर की ओर विपिन के पथ पर।
देते हैं सूचना सॉझ की
मुरली के मधुमय स्वर में भर॥
विरह-भार से नत मलाह-गण
चले गुणवती नौका लेकर।
कोई गुणवन्ती इनको भी
खींच रही है क्या पद-पद पर?

[१७]

ये अनुराग-भरे धरणीधर
ग्राम-निकर ये शांति-समन्वित।
प्रिय की सुधि सी ये सरिताएँ
ये कानन कान्तार सुसज्जित॥
हरित भूमि के मध्य विमल पथ
पुष्पित लता प्रसून मनोरम।
बाट जोहते हैं सुख लेकर
घर के बाहर मूक मित्र सम॥

[१८]

यहाँ नहीं है राग-द्वेष से
हृदय तरंगित होने का भय।
यहाँ कपट-व्यवहार नहीं है
और नहीं जन-जन पर संशय॥
यहाँ नहीं मन में जगती है
प्रतिहिंसा की वृत्ति भयावह।
केवल है सौन्दर्य शान्ति सुख
कैसी है रमणीय जगह यह!

[१९]

जग की आँखों से ओझलकर
बरबस मेरी दृष्टि उठाकर।
झिलमिल करते हुये गगन में
तारों के पथ पर पहुँचाकर॥
करता है संकेत देखने
को किसका सौन्दर्य मनोरम?
आकर के चुपचाप कहीं से
यह संध्या का तम, अति प्रियतम॥

[३२]

यों चिन्ता करते-करते वह
सुन्दर सरिता-तीर-अवस्थित।
निज कुटीर पर गृह-देवी के
सम्मुख आकर हुआ उपस्थित॥
जिसके नेत्रों में दर्शित था
सच्चरित्र उन्नत पवित्र मन।
जिसकी भौंहों में लक्षित था
सरल प्रकृति-संभव भोलापन॥

[३३]

लगते थे जिसके कपोल युग
रक्त प्रभा से ऐसे सुन्दर।
जैसे दर्पण में गुलाब के
गुच्छक के प्रतिबिम्ब मनोहर॥
नोकवती नासा करती थी
जिसकी प्रतिभा को सुप्रमाणित।
जो सत्कवि की एक पंक्ति सी
सुन्दर थी सदर्थ से प्राणित॥

[३४]

करुणा सी मृदु, धर्म-गीत सी
शुद्ध, कल्पना सी सुख-संकुल।
शुभ्र उषा सी, दिव्य हास्य सी,
रूप सिंधु की मणि सी मजुल॥
बाट जोहती हुई एकटक
पथ पर दृष्टि दिये चिन्ता-रत।
सहधर्मिणी सती सुमना ने
हँसकर किया युवक का स्वागत॥

[३५]

भोजन के उपरांत सुअवसर
पाकर कहने लगी—प्राणधन!
क्या फिर आज तुम्हारे मन में
जाग उठा वह रोग पुरातन?
कैसी ही हो उच्च भावना
पर उद्योग बिना है प्रियवर!
निरी कल्पना से तट पर से
पारावार नहीं सकते तर॥

[३६]

तुम में सच्चरित्रता, प्रतिभा,
ज्ञान, योग्यता, धैर्य, पराक्रम।
सेवाभाव सहानुभूति है
अत नाथ कर प्रकट परिश्रम॥
पहले निज घर से सुधार का
तुम क्यों करते नहीं उपक्रम?
केवल मनसा की तरङ्ग में
क्यों खोते हो आयु निरुद्यम?

[३७]

ढूँढ़ रहे होगे तुम कोई
महत्कार्य करने का अवसर।
पर यह अन्वेषण है सोचो
कितना बड़ा आयु का तस्कर॥
छोटा ही सत्कर्म क्यों न हो
करने लगो हृदय से लगकर।
होगा स्वयं उपस्थित आकर
महत्कर्म करने का अवसर॥

[३८]

कहती है यह प्रकृति सदा तुम
प्रेम करो केवल अपने पर।
गृह-दीक्षा कहती है—अपने
कुल पर रक्खो प्रीति शक्ति भर॥
जनता कहती है—स्वदेश पर
कर दो निज सर्वस्व निछावर।
और धर्म कहता है—रक्खो
जीवमात्र पर प्रेम निरन्तर॥

[३९]

एक साथ तुम कर न सकोगे
सबके अनुरोधों का पालन।
कर्म अनत, आयु है निश्चित,
उस पर भी कल्पना ग्रसित मन॥
मनुज मनोज्ञ कल्पना द्वारा
चाहे कर ले निज प्रसन्न मन।
पर उससे न शान्ति पाते हैं
दुर्जय क्लेशों से जर्जर जन॥

[४०]

गृह का सुख, नीरुज तन का सुख,
छोड़ प्रफुल्लित यौवन का सुख।
मन की अमित तरंगों में तुम ,
खोते हो इस जीवन का सुख॥
बातों ही बातों में तन से
घन की छाया सम यह यौवन।
निकल जायगा तीर की तरह
पछताओगे तब मन ही मन॥

[४१]

सेवा है महिमा मनुष्य की
न कि अति उच्च विचार द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का
है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल॥
सुमना की मार्मिक बातों से
हुआ बसंत विशेष प्रभावित।
किसी एक निश्चय पर है वह
तब से होने लगा प्रमाणित॥

[४]

विद्युद् वेगवन्त वैरी ने
पाकर बाधा रहित सुअवसर।
कितने ही पुर नगर ग्राम घर
धान्यागार लिये अधिकृत कर॥
पहुँचा दी सत्वर स्वदेश में
यह घोषणा नृपति ने घर-घर।
अपने देश मान धन जन की
रक्षा करे प्रजा सब मिलकर॥

[५]

मैं नितान्त असमर्थ हुआ हूँ
कोई मुझपर रहे न निर्भर।
अपनी यह असहाय अवस्था
चकित हो गये लोग श्रवण कर॥
जैसे थे वे सुखाभिलाषी
वैसे ही थे सावधान नित।
नीति निपुण मन्त्रणा-कुशल थे
वे रहस्य-रक्षक इंद्रिय जित॥

[२]

पारस्परिक सहानुभूतिमय
सकल मनुज नीरुज निरुपद्रव ॥
हाट-बाट घर-घर में प्रतिदिन
करते थे संगीत महोत्सव।
युवक युवतियों के कलोल से
गूँजा रहता था घर उपवन।
नित्य नवल कामना-निरत थे
विविध विलास-युक्त उनके मन ॥

[३]

यह सुख देख द्वेष-वश अथवा
धन-लिप्सा-वश बल-संचय कर।
एक शत्रु चतुरंग चमू ले
औचक आ पहुँचा सीमा पर ॥
देशाधिप ने तुमुल युद्ध कर
रोका बहु संख्यक ले सैनिक।
पर उसकी दुर्जय अनी से
हार गया नृप नहीं सका टिक ॥

[४]

विद्युत् वेगवन्त वैरी ने
पाकर बाधा-रहित सुअवसर।
कितने ही पुर नगर ग्राम घर
धान्यागार लिये अधिकृत कर॥
पहुँचा दी सत्वर स्वदेश में
यह घोषणा नृपति ने घर-घर।
अपने देश मान धन जन की
रक्षा करे प्रजा सब मिलकर॥

[५]

मैं नितान्त असमर्थ हुआ हूँ
कोई मुझपर रहे न निर्भर।
अपनी यह असहाय अवस्था
चकित हो गये लोग श्रवण कर॥
जैसे थे वे सुखाभिलाषी
वैसे ही थे सावधान नित।
नीति निपुण मन्त्रणा-कुशल थे
वे रहस्य-रक्षक इद्रिय जित॥

[६]

वे थे नीति धर्म के रक्षक
जगज्जयी पुरुषों के वंशज।
पृथ्वी भर के नृप होते थे
धन्य प्राप्त कर जिनकी पद-रज॥
सत्य शौर्य विश्वास न्याय के
एकमात्र आधार धरा पर।
वे ही थे; उनका जीवन था
जग के निविड़ विपिन में दिनकर॥

[७]

वे न जानते थे भूतल पर
जीवित रहना पराधीन बन॥
न्याय और स्वातन्त्र्य जगत में
उनके थे दो ही जीवन-धन॥
सुन नृप की घोषणा शत्रु की
प्रबल शक्ति का पाकर परिचय।
किया उन्होंने शीघ्र शत्रु को
उचित दण्ड देने का निश्चय॥

[८]

जय के दृढ विश्वास-युक्त थे
दीप्तिमान जिनके मुख मंडल।
पर्वत को भी खंड-खंड कर
रजकण कर देने को चंचल॥
फड़क रहे थे अति प्रचंड भुज-
दंड शत्रु-मर्दन को विह्वल।
ग्राम-ग्राम से निकल-निकलकर
ऐसे युवक चले दल के दल॥

[९]

अपने शयनागार बंद कर
दिये नवोढ़ाओं ने तत्क्षण।
बाँध दिये पतियों की कटि में
असि, कलाइयों में रण-कङ्कण॥
माताओं ने विजय-तिलक कर
छिड़के थे जिन पर पवित्र जल।
ग्राम-ग्राम से निकल निकलकर
ऐसे युवक चले दल के दल॥

[१०]

अरि-मर्दन के मनोभाव थे
जिनकी मुख-आकृति में लक्षित।
जिनके हृदय पूर्व पुरुषों की
वीर-कथाओं से थे रक्षित॥
जिनमें शारीरिक बल से था
कहीं अधिक उद्दाम मनोबल।
ग्राम-ग्राम से निकल-निकलकर
ऐसे युवक चले दल के दल॥

[११]

जिनकी नस-नस में विद्युत् थी
आँखों में था क्रोध प्रज्वलित।
छाती में उत्साह भरा था
वाणी में था प्राण प्रवाहित॥
मातृभूमि के लिये हृदय में
जिनके भरी भक्ति थी अविरल।
ग्राम-ग्राम से निकल निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल॥

[१२]

माँ ने कहा—दूध की मेरे
लज्जा रखना रण में हे सुत !
स्त्री ने कहा—लौटना घर को
आर्यपुत्र ! तुम विजय-श्री युत ॥
इन वचनों से गूँज रहे थे
जिनके श्रवण और अन्तस्तल।
ग्राम-ग्राम से निकल निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल ॥

[१३]

रहता था उत्साह प्रवाहित
गाँवों में राहों पर दिनभर।
घर से निकल खड़ी रहती थीं
माताएँ भोजन जल लेकर ॥
सैनिक युवकों को रणवर्ती
निज पुत्रों के तुल्य मानकर।
खिला पिलाकर सुख पाती थीं
प्रेम-सहित दृग मूँद ध्यान धर ॥

[१४]

बहनें कहती थीं—हे भाई !
वैरी का अभिमान चूर्णकर।
विजयी योद्धा के बानक में
इसी राह होकर जाना घर॥
हम गायेंगी गीत विजय के
फूल और लाजा बरसाकर।
बहनों को आनंदित करना
हर्ष हमारा सुना सुनाकर॥

[१५]

बहुयें भूख प्यास बिसराकर
पथ पर निर्निमेष दृग देकर।
देख सैनिकों के सजधज निज
पतियों की छवि दृग में लेकर॥
पथ की ओर खोल वातायन
बार-बार चुपचाप आह भर।
किसी कल्पना में बेसुध सी
वहीं खड़ी रहती थीं दिनभर॥

[१६]

युद्ध जीतकर वीर वेष में
आयेंगे मेरे प्राणेश्वर।
पहनाऊँगी यह जय-माला
इसी भावना को उर में धर॥
प्रात काल नित्य उठकर के
उपवन से नव कुसुम चयन कर।
हार गूँथकर वे रखती थीं
प्रेम-वारि से पूर्ण नयन कर॥

[१७]

गाँव-गाँव में चौराहों पर
प्रतिदिन संध्या को नारीनर।
एकत्रित हो युद्ध-भूमि के
अति रोचक वृत्तान्त श्रवणकर॥
हो जाते थे हर्ष विमोहित
रोमाञ्चित गर्वित आनन्दित।
कभी-कभी चिंतित आन्दोलित
उत्तेजित विक्षोभ विकम्पित॥

[१८]

करता था जब समराङ्गण में
कोई योद्धा प्राप्त वीर-गति।
उसके जननी-जनक गाँव में
होते थे तब सम्मानित-अति॥
उन्हें राष्ट्र-रक्षक कहकर सब
सादर करते थे मस्तक-नत।
क्षण में हो जाता था उनका
पुत्र-वियोग गर्व में परिणत॥

[१९]

होता था जब समर-भूमि में
कोई सैनिक लड़कर आहत।
उसकी वीर-प्रसू के अद्‌भुत
हो जाते थे भाव मनोगत॥
अपनी कोख पवित्र मानकर
वह कहती होकर आनन्दित।
वीर-कर्म का मेरे सुत के
तन पर है स्मृति-चिन्ह अलंकृत॥

[१८]

करता था जब समराङ्गण में
कोई योद्धा प्राप्त वीर-गति।
उसके जननी-जनक गाँव में
होते थे तब सम्मानित-अति॥
उन्हें राष्ट्र-रक्षक कहकर सब
सादर करते थे मस्तक-नत।
क्षण में हो जाता था उनका
पुत्र-वियोग गर्व में परिणत॥

[१९]

होता था जब समर-भूमि में
कोई सैनिक लड़कर आहत।
उसकी वीर-प्रसू के अद्भुत
हो आते थे भाव मनोगत॥
अपनी कोख पवित्र मानकर
वह कहती होकर आनन्दित।
वीर-कर्म का मेरे सुत के
तन पर है स्मृति-चिन्ह अलंकृत॥

[२०]

पर उत्साहमयी सुमना का
भावुक कीर्ति-रसिक उन्नत मन।
एक गूढ़ पीड़ा से पीड़ित
रहता था उद्विग्न प्रतिक्षण ॥
औरों का आनद हर्ष सुख
उसके लिये पराया था धन।
निजी हर्ष के लिये सदा वह
व्याकुल रहती थी मन ही मन ॥

[२१]

उन्हीं दिनों प्रिय पुत्र के लिये
अपने को कर्त्तव्य-युक्त कर।
स्वेच्छा-सहित एक वृद्धा ने
उसको सेवा से विमुक्त कर ॥
राष्ट्र-धर्म पालन को सब से
श्रेष्ठ मान जग से विराग कर।
खोल दिया था जन्म-भूमि की
सेवा का पथ देह त्याग कर ॥

[२२]

वृद्धा के इस आत्म-त्याग की
कथा सहस्रों मुख से होकर।
हाट-बाट खलियान खेत तक
पहुँच गई विद्युत् सी घर-घर॥
सुनकर सारा देश हो गया
चकित मुग्ध अतिशय उत्साहित।
राष्ट्रधर्म की इस महिमा से
सुमना हुई प्रभूत प्रभावित॥

[२३]

इस नूतन तरंग से सुमना
होकर और अधिक उत्कंठित।
पति के निकट पहुँचकर बोली
एक दिवस उत्साह-विमंडित॥
मेरा कोई रण में होता
मैं सोचा करती हूँ हरदम।
मैं भी उसकी रण-वार्त्ता सुन
कितना सुख पाती हे प्रियतम!

[२४]

मैं तो हर्ष मना आती हूँ
प्रतिदिन सब के घर आ आकर।
मैं तरसा करती हूँ कोई
आता नहीं कभी मेरे घर॥
क्यों आवे ? स्वदेश-रक्षा में
मैं ने त्याग किया क्या अबतक ?
धिक् है मुझे, एक दिन भी तो
मेरा ऊँचा हुआ न मस्तक॥

[२५]

वीरों की माताओं बहनों
बहुओं का समाज में स्वागत।
देख विषम लज्जा से हे पति !
मैं कर लेती हूँ मुख अवनत॥
कभी हर्ष से उन सब की सी
मेरी छाती हुई न गद्गद्।
प्रियतम ! तुम्हीं बता सकते हो
मेरे इस महान दुख की हद॥

[२६]

शक्ति-प्रदर्शन को जब कोई
गर्वित शत्रु प्रबल दल सजकर।
या बहु वैभव देख लोभ-वश
कोई निठुर दस्यु सीमा पर॥
आकर धन जन पर पड़ता है
निर्भय रण-दुन्दुभी बजाकर।
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर?

[२७]

क्रुद्ध सिंह सम निकल प्रकट कर
अतुलित भुजबल विषम पराक्रम।
युद्ध-भूमि में वे वैरी का
दर्प दलन कर लेते हैं दम॥
या स्वतत्रता की वेदी पर
कर देते हैं प्राण निछावर।
तब नवयुवक स्वतत्र देश के
क्या बैठ रहते हैं घर पर?

[२८]

या स्वदेश ही में जब कोई
स्वेच्छाचारी निपट निरङ्कुश।
शासक राज शक्ति से रक्षित
लम्पट लोलुप क्रूर कापुरुष॥
निज कर्त्तव्य विरुद्ध प्रजा पर
करता है अन्याय घोरतर।
तब नवयुवक स्वतन्त्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर?

[२९]

व्यथित प्रजा के बीच वास कर
निर्भय भावों का प्रचार कर।
सत्य-शक्ति के अवलम्बन से
शासन में निश्चित सुधार कर॥
वे होते हैं हृदय-मञ्च पर
या तो कारागृह के भीतर।
तब नवयुवक स्वतन्त्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर?

[३०]

जाता है जब फैल देश में
कोई विषम रोग संक्रामक।
अथवा ऊपर आ पड़ता है
जब भीषण दुर्भिक्ष अचानक॥
जब जनता पुकार उठती है
त्राहि त्राहि स्वर से अति कातर।
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर!

[३१]

वे प्राणों का मोह छोड़कर
निशिदिन घाम शीत सब सहकर।
धर्म-भाव से प्रेरित होकर
भूपर सोकर भूखे रहकर॥
परम सुहृद् बनकर समाज की
सेवा में रहते हैं तत्पर।
तब नवयुवक स्वतन्त्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर!

[३२]

तुम हो वीर पिता माता के
वीर पुत्र मेरे जीवन-धन।
तुमसे आशायें कितनी हैं
जन्मभूमि को हे अरिमर्दन!
तुम्हें ज्ञात है कैसा संकट
है स्वदेश पर हे प्राणेश्वर!
शोभा नहीं तुम्हें देता है
घर पर रहना इस अवसर पर॥

[३३]

शस्त्र ग्रहणकर रण में जाकर
विजय प्राप्तकर वीर अरिन्दम!
मनोकामना इस दासी की
पूर्ण करो प्राणाधिक प्रियतम!
बातें सुन उसके विधु मुख पर
हाथ फेरकर चारु चिबुक धर।
सुमना से बसंत यह बोला
अम्बक अधर कपोल चूमकर॥

[३४]

प्राण-वल्लभे ! प्रिये ! सुवदने !
इन्दीवर-आयत-दल-लोचनि
प्रेम-तरंगिणि ! चित्त विहारिणि !
हे सुभगे ! भव-ताप विमोचनि !
तेरी मकरध्वज धन्वा सी
वक्र-भृकुटियों के इंगित पर।
मेरी सब गति विधि निर्भर है
जैसे कीस मदारी के कर॥

[३५]

सुन्दरि ! तेरे हावभाव के
वशीकरण से हूँ मैं मोहित।
प्राण निकलने लग जाते हैं
क्षणभर भी तू हुई तिरोहित॥
तेरे बिना नहीं जी सकता
तू है मेरे जीवन की
मेरा निधन-वृत्त सुनने को
क्यों तू आतुर है

[३६]

है विशाल पर्वत सा आगे
तेरे यौवन की स्मृति का सुख।
तेरी शोभा का रत्नाकर
लहरें मार रहा है सम्मुख॥
तेरी मुसकाहट की मदिरा
पीकर मैं उन्मत्त अचेतन।
गिरि सागर का कर सकता हूँ
प्राणेश्वरि ! कैसे उल्लंघन ?

[३७]

धँसा हृदय में है हे प्यारी !
तेरी चोखी चितवन का शर।
फसका करती है गुलाब के
काँटे सी नासिका मनोहर॥
तेरे चिबुक-गर्त्त में मेरा
मन रहता है मग्न निरन्तर।
मैं आहत, मैं विवश, भला क्या

चौथा सर्ग

[१]

प्रेम-पद्मिनी ! प्रेम-लता ! हे
प्राणवल्लभे ! हे प्राणेश्वरि !
मेरी प्रिय सद्मिनी कहाँ हो ?
हे मेरे जीवन की सहचरि ॥
मैं पुकारता हूँ पर मेरी
ही ध्वनि सुन पड़ती है फिरकर ।
मानों प्रिया-विहीन जानकर
करता है उपहास आज घर ॥

[२]

एक एक कोना इस घर का
हार गया मैं खोज खोजकर।
मेरी परम प्रेम की प्रतिमा
कहाँ छिप गई हे परमेश्वर!
प्रियम्वदा के बिना आज यह
लगता है घर महा भयंकर।
द्वार नहीं हैं ये अति भीषण
मुँह खोले हैं खड़े निशाचर॥

[३]

आँख मूँद बैठा करता हूँ
इस आशा से अति आकर्षित।
दृग खुलते ही उस विनोदिनी
के दर्शन हो जायँ कदाचित॥
आँखें बीसों बार बदकर
खोली होंगी मैंने सत्वर।
पर न दृष्टि-पथ में वह आई
हाय! करूँ क्या हे परमेश्वर!

[४]

जाता हूँ मैं इस आशा से
बार-बार दर्पण के सम्मुख।
मेरे पीछे खड़ी प्रिया का
दीख पड़े वह चिरपरिचित मुख॥
पर जाता है निकल आह बन
मधुर कल्पना का सुख सञ्चित।
आँसू आकर कर देते हैं
मुझको निज सुख से भी वञ्चित॥

[५]

भूख प्यास मन की उमंग सब
हरकर कहाँ गई हे सुन्दरि!
मुझे असह्य विरह की पीड़ा
क्यों दे गई प्रिये! प्राणेश्वरि!!
अब जाना हे प्रिये! तुम्हारे
तनमें है वह अद्भुत पावक।
समीपस्थ को शीतल है जो
किन्तु दूरवर्ती को दाहक॥

[६]

तेरी स्मृति के साथ प्रेममयि !
मुझको है असह्य यह जीवन।
तुझे भूल जाऊँ तो जग में
मेरा क्या है प्रिये ! प्रयोजन ॥
इस प्रकार प्रतिदिन सुमना को
प्रिय नामों से सम्बोधन कर।
कलप कलप कर कई दिनों तक
वह पुकारता रहा निरन्तर ॥

[७]

उसके भूषण वसन उठाकर
हृदय लगाकर गद्गद् होकर।
बार बार चुम्बनकर दृग से
अश्रु गिराकर उन्हें भिगोकर ॥
सहसा उस निर्जन घर में वह
सुमना कहकर गिरकर भूपर।
मूर्च्छित सा रहता था प्राय
बहुत समय तक उसे स्मरण कर ॥

[८]

सुमना ने निज कर कमलों से
जिन तरुओं को सींच सींच कर।
खड़ा किया था, उनके तन से
लिपट लिपट कर प्रेम पुरःसर॥
मुग्ध वसंत न जाने क्या क्या
सोचा करता था मन ही मन।
प्रेम-रहस्य जान सकते हैं
केवल विरह-व्यथित प्रेमी जन॥

[९]

जिन जिन जगहों पर वसंत ने
सुमना के सन्निकट बैठकर।
सारे जग को भूल प्रेम की
एक मूर्ति मन-मन्दिर में धर॥
हावभाव भ्रू-संचालन से
आँखों में अधरों में हँसकर।
हृदय खोलकर बातें की थीं
वर्द्धित कर अनुराग परस्पर॥

[१०]

जहाँ किये थे मान जहाँ पर
हास जहाँ परिरम्भण चुम्बन।
प्रणय-कलह छिपकर कटाक्ष फिर
क्षमा-याचना प्रेमालिङ्गन ॥
जहाँ हुई थी आँख-मिचौनी
जहाँ हुआ था वेणी बन्धन।
जहाँ कुसुम-कन्दुक-क्रीड़ा के
साथ हुआ था लोम-प्रहर्षण ॥

[११]

कहकर जहाँ कान में कोई
प्रेम-रहस्य विनोद-विभूषित।
लज्जा-नम्र-मुखी सुमना को
देख हुआ था वह आनंदित ॥
उन उन जगहों पर जा-जाकर
हृदय-व्यथा से विह्वल होकर।
लोट-लोटकर मूर्च्छित रहकर
दिवस बिता देता था रोकर ॥

[१२]

कई दिनों तक इसी भाँति से
विषम वियोग जनित दुख सहकर।
सुमना से निराश-सा होकर
मनसा के प्रवाह में बहकर॥
निकल गया घर छोड़ सुपरिचित
वन में चारोंओर घूमकर।
वह अनुभूत सुखों का चित्रण
लगा देखने मानस-पट पर॥

[१३]

एक दिवस इस तरु की सुन्दर
छाया से चित्रित भूतल पर।
थककर या इस प्रेम-पात्र को
सुख देने के लिये दयाकर॥
वह सो गई गोद में मेरी
ढीले कर सब अंग मनोहर।
मैं अतृप्त नेत्रों से उसका
देख रहा था आनन सुन्दर॥

[१४]

किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी
नीरवता से व्याकुल होकर।
अपने अधर रख दिये मैंने
उसके अरुण वर्ण अधरों पर॥
चौंक उठी वह, किन्तु जानकर
मेरी व्याकुलता का कारण।
विद्युत् सी खिलखिला पड़ी वह
हाय! भूलता नहीं एक क्षण॥

[१५]

वर्षा के उपरान्त गगन से
छोटे छोटे मेघ उतरकर।
जाते थे जब ठहर शैल की
रोमावलि में उन्हें देखकर॥
"थके हुये ये घन के बालक
तरु पर बैठ ले रहे हैं दम।"
कहकर वह हँसती थी, उसका
कैसा था भोलापन अनुपम॥

[१६]

एक दिवस मैंने उपवन मे
पुष्पित एक गुलाव देखकर।
बड़े प्रेम से कहा—हे प्रिये!
कैसा है प्रसून यह सुन्दर!
वह अचरज से लगी देखने
निज कपोल मेरे समक्ष कर।
मैं लज्जित हो गया, भूलता
नहीं हाय! वह दृश्य मनोहर॥

[१७]

यह सिर से पद तक अति उज्ज्वल
हिम से आच्छादित है गिरिवर।
इसकी चोटी से हम दोनो
भुज बन्धन कस आलिंगन कर॥
चुम्बन करते हुये परस्पर
लुढका करते थे उतार पर।
उसे स्मरण कर हो जाता है
हृदय विरह-ज्वर से अति कातर॥

[१८]

वह सुधांशु वदनी निज वपु पर
उज्ज्वल विमल वसन धारण कर।
मेरे साथ घूमने जाकर
जमे हुये अति धवल तुहिन पर॥
हो जाती थी परीहास-वश
हिमतल पर अदृश्य किञ्चित हट।
मृदु कनीनिका देख-देख तब
मैं सकता था पहुँच सन्निकट॥

[१९]

मैं करता था जब उसके
सौन्दर्य और गुण का सकीर्तन।
मेरे दृग से लग जाते थे
उसके अर्द्ध-निमीलित लोचन॥
मेरा कंठ-हार बनती थीं
उसकी गोल भुजायें उठकर।
हो जाती थी प्रेम-प्रभा से
उसके मुख की कान्ति मनोहर॥

[२०]

हाय ! सताती हैं ये बातें
स्मृति-पट पर क्रमश' आ आकर।
विषम वेदना हाय ! हृदय की
किसके पास कहूँ मैं जाकर!
दीप, वह्नि, तारे, हिमांशु, रवि,
हैं प्रकाश के स्रोत बहुत पर।
प्रिया-विना मुझ को लगता है
अंधकारमय यह सचराचर॥

[२१]

पता नहीं किसके वियोग में
वन में नदी-तटों पर तरुवर।
मेरी तरह रुदन करते हैं
फूल नाम के अश्रु गिराकर॥
कोई रोता है अनन्त में
जिसके अश्रु विन्दु हैं उडुगण।
ओस नाम से तृण तरुओं पर
बिखरे रहते हैं जिनके कण॥

[२२]

चश्मों से बहते हैं यह किस
विरही के हैं अश्रु अनवरत।
ये प्रपात हैं किस विदग्ध का
अनल बुझाने में संतत रत॥
किसकी विषम वियोग व्यथा से
विह्वल है ह्रद-तनया का उर।
प्रगतिशील होती सुमना भी
कहीं हाय! यौंही मिल्नातुर॥

[२३]

हिम से शुभ्र शैल श्रेणी के
मध्य विमल दर्पण सम सुन्दर।
जमे हुये उज्ज्वल सरसी को
कौतूहल के साथ देखकर॥
वह कहता था—सुमना के है
मुक्त हास्य की उज्ज्वलता यह।
उसे देखता हुआ वहीं पर
दिन व्यतीत कर देता था वह॥

[२४]

अर्द्ध-निशा में तारागण से
प्रतिबिम्बित अति निर्मल जलमय।
नील झील के कलित कूल पर
मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥
नीरवता में अंतस्तल का
मर्म करुण स्वर-लहरी में भर।
प्रेम जगाया करता था वह
विरही विरह-गीत गा गाकर॥

[२५]

करुण-रसाप्लुत विरह-गीत स्व
खेतों और वनों में जाकर।
हरवाहों को चरवाहों को
सिखा दिये थे उसने गाकर॥
उसकी विरह-वेदना अगणित
कंठों में हो उठी निनादित।
हृदयों में हो उठा चतुर्दिक
करुणा पारावार तरंगित॥

[२६]

भोज-पत्र पर विरह-व्यथा मय
अगणित प्रेम पत्र लिख लिखकर ।
डाल दिये थे उसने गिरि पर
नदियों के तट पर वन पथ पर ॥
पर सुमना के लिये दूर थे
ये वियोग के हृदय कदम्बक ।
और न विरही की पुकार ही
पहुँच सकी उसके समीप तक ॥

[२७]

कमल, कलभ, सरिता, राकापति,
परभृत, लतिका, विद्युत्, मधुकर ।
रक्त कुसुम, दाड़िम, गुलाब, शुक,
देख महीधर-शिखर, वारिधर ॥
सुमना के अगों की करके
याद विरह से कातर होकर ।
रुदन किया करता था वन में
घुटनों पर वसन्त सिर रखकर ॥

[२८]

उसके सरस हृदय को पहले
था एक ही विश्व में आश्रय।
किन्तु हो गया था वियोग में
उसके लिये जगत सुमनामय॥
कई महीनों तक ऐसी ही
उसकी दशा रही अनियंत्रित।
धीरे-धीरे वन-निवास से
वह कुछ होने लगा शांत-चित॥

[२९]

सात्विक वातावरण प्राप्त कर
सुधर चली मानसिक दशा जब।
होने लगा हृदय में उसके
क्रमशः उदित विवेक-तरणि तब॥
प्राय आशा की समाप्ति पर
होता है विराग का उद्भव।
अब वह अपनी मनोभ्रांति का
करने लगा अहर्निश अनुभव॥

[२०]

लता-निकेत निवासी बनकर
वह सोचा करता मन ही मन।
अहो! प्रेम में तृप्ति नहीं है
केवल है अनन्त आकर्षण॥
शान्ति नहीं, केवल चिन्ता है
चिन्ता में है कहाँ आत्म सुख?
सोच-सोच कर वह अपराधी
स्वयं बन गया अपने सम्मुख॥

[२१]

एक वर्ष पश्चात् एक दिन
एक बलिष्ठ युवक अति सुन्दर।
अश्वारूढ वहाँ पर आकर
बोला उसको अभिवादन कर॥
हे सत्तम! हे प्रेमव्रती!
हे उच्च-वंश-सम्भूत वीर-वर!
तुमने भी तो इसी देश को
धन्य किया है जन्म ग्रहण कर॥

[३२]

आया हूँ मैं तुम्हें सुनाने
आज एक सम्वाद शोकमय।
पर-पद-दलित शीघ्र ही होगा
देश तुम्हारा हे शत्रुञ्जय!
धन-बल जन-बल और बुद्धि-बल
करके मुक्तहस्त व्यय भरसक।
कर न सके रिपु को परास्त हम
घोर समरकर एक वर्ष तक॥

[३३]

प्रबल शत्रु ने आधे से भी
अधिक देश कर लिया हस्तगत।
परवशता की आशङ्का से
हैं हम लोग त्रस्त चिन्तारत॥
चारोंओर देख पड़ते हैं
दृश्य देश में हृदय विदारक।
दशा हमारी शोचनीय है
खोज रहे हैं हम उद्धारक॥

[३४]

अब हम सब अवशिष्ट शक्ति से
किया चाहते हैं अन्तिम रण।
आशा है स्वीकार करोगे
देश के लिये युद्ध-निमन्त्रण॥
यह सुनकर वसन्त क्षणभर चुप
रहकर बोला हे आगन्तुक!
कुछ उत्तर देने से पहले
मैं हूँ एक बात का इच्छुक॥

[३५]

क्या विकराल समर में जाकर
सैनिक सदृश शस्त्र धारण कर।
किया किसी नारी ने भी है
तन मन अर्पण जन्म-भूमि पर?
बोला युवक—एक अवला ने
युद्धस्थल में शस्त्र ग्रहण कर।
अपनी विजय-ध्वजा रोपी है
बढ़ते हुये शत्रु से रण कर॥

[३६]

यदि वह सैन्य-संगठन करके
पहुँच न जाती उचित समय पर।
तो स्वातन्त्र्य खो चुका होता
देश तुम्हारा हे अभयङ्कर!
है सब को कंठस्थ देश में
उसका सुमना नाम मनोहर।
सुखद नाम सुनकर वसंत के
आये नेत्र आँसुओं से भर॥

[३७]

लगा सोचने वह सुमना के
गुण का बार-बार कर चिंतन।
धिक् है, मैं पुरुषार्थ छोड़कर
बन में बैठा हूँ विरही बन॥
अबला एक युद्ध में जाकर
निज कुल, जाति, देश का गौरव।
रखने में तत्पर है, पर मैं
हाय! हो रहा हूँ जीवित शव॥

[३८]

इस चिंता-तम को भेदन कर
आत्म तेज रूपी मरीचिधर।
दीप्तिमान हो गया हृदय से
ऊँचा उठकर मुखमण्डल पर॥
निश्चय की दृढ़ता बतलाने
लगे ज्योतिमय अचल विलोचन।
कहने लगा उठाकर अपना
भुज विशाल वह भीति-विमोचन॥

[३९]

करता हूँ स्वीकार निमन्त्रण
मैं सहर्ष हे युवक बन्धुवर!
किन्तु एक इच्छा मेरी भी
करनी होगी पूर्ण दयाकर॥
"रहना होगा युद्धस्थल में
तुमको मेरे साथ निरन्तर।"
'हाँ, सदैव मैं साथ रहूँगा'
तत्क्षण कहा युवक ने हँसकर॥

[४०]

कहने लगा वसंत—मित्र ! मैं
हूँ सुमना का भाग्यवान पति।
उसके ही वियोग में मैं ने
छोड़ी है सांसारिक सुख-रति॥
मैं यदि जन्मभूमि-सेवा-रत
करूँ समर में प्राप्त वीर-गति।
मेरा यह संदेश स्वयं तुम
उसे सुनाना हे प्रगल्भ-मति!

[४१]

"हे सुमना! तेरा प्रियतम पति
तेरी शुभ इच्छा का अनुचर।
तेरा पुण्य-प्रभाव प्राप्तकर
पार कर गया है भवसागर॥"
यह कहकर कटिबद्ध निरन्तर
प्रेम-पथिक चल पड़ा मार्ग पर।
चला युवक सम्मोहित
दृष्टि बचाकर अश्रु पोंछकर

[४]

सागर सा गभीर हृदय हो
गिरि सा ऊँचा हो जिसका मन।
ध्रुव सा जिसका लक्ष्य अटल हो
दिनकर सा हो नियमित जीवन॥
जिसकी आँखों में स्वदेश का
अति उज्ज्वल भविष्य हो चित्रित।
इच्छा में कल्याण बसा हो
चिन्ता में गौरव हो रक्षित॥

[५]

तेज, हास्य, आनन्द, सरलता,
मैत्री, करुणा का क्रीडास्थल।
हो सच्चा प्रतिबिम्ब हृदय का
प्रेम पूर्ण जिसका मुख मण्डल॥
उच्च विचार-भार से जिसके
चरण मन्द पड़ते हों भू पर।
अन्तर्दृष्टि बहुत व्यापक हो
हो जिसके भीतर॥

[२]

पतझड़ पर कुसुमाकर आकर
करता है नवशक्ति संचरित।
वन के रोम रोम से जैसे
हो उठता है हर्ष प्रस्फुटित॥
वैसे ही वसन्त ने आकर
जाग्रत किया नवल बल विक्रम।
युवकों में नवीन आन्दोलन
नूतन आकर्षण नव उद्यम॥

[३]

जिसका ज्ञान भावनामय हो
सदुद्देश्य साधन में तत्पर।
जिसका धर्म लोक-सेवा हो
जिसका वचन कर्म का अनुचर॥
सदा लोक-संग्रह में जिसकी
हो प्रवृत्ति हो वृत्ति अचचल।
सदा ध्येय के सम्मुख जिसका
प्रगतिशील हो एक एक पल॥

[४]

सागर सा गभीर हृदय हो
गिरि सा ऊँचा हो जिसका मन।
ध्रुव सा जिसका लक्ष्य अटल हो
दिनकर सा हो नियमित जीवन॥
जिसकी आँखों में स्वदेश का
अति उज्ज्वल भविष्य हो चित्रित।
इच्छा में कल्याण बसा हो
चिन्ता में गौरव हो रक्षित॥

[५]

तेज, हास्य, आनन्द, सरलता,
मैत्री, करुणा का क्रीड़ास्थल।
हो सच्चा प्रतिबिम्ब हृदय का
प्रेम पूर्ण जिसका मुख-मण्डल॥
उच्च विचार भार से जिसके
चरण मन्द पड़ते हों भू पर।
अन्तर्दृष्टि बहुत व्यापक हो
भूमण्डल हो जिसके भीतर॥

[६]

वह समाज वह देश राष्ट्र वह
जिसका हो ऐसा जन-नायक।
होगा क्यों न सकल सुख-संकुल?
विश्व-वन्द्य आदर्श विधायक?
उस मनुष्य-भूषण बसन्त ने
कार्य-क्षेत्र में प्रस्तुत होकर।
पहुँचा दी प्रत्येक युवक तक
यह घोषणा देश में सत्वर॥

[७]

अतुलनीय जिनके प्रताप का,
साक्षी है प्रत्यक्ष दिवाकर।
घूम घूमकर देख चुका है
जिनकी निर्मल कीर्ति निशाकर॥
देख चुके हैं जिनका वैभव
ये नभ के अनन्त तारागण।
अगणित बार सुन चुका है नभ
जिनका विजय-घोष रण-गर्जन॥

[८]

शोभित है सर्वोच्च मुकुट से
जिनके दिव्य देश का मस्तक।
गूँज रही हैं सकल दिशायें
जिनके जयगीतों से अबतक॥
जिनकी महिमा का है अविरल
साक्षी सत्य रूप हिमगिरिवर।
उतरा करते थे विमानदल
जिसके विस्तृत वक्षस्थल पर॥

[९]

सागर निज छाती पर जिनके
अगणित अर्णव पोत उठाकर।
पहुँचाया करता था प्रमुदित
भूमण्डल के सकल तटों पर॥
नदियाँ जिनकी यश धारा सी
बहती हैं अब भी निशि वासर।
ढूँढो उनके चरण-चिन्ह भी
पाओगे तुम इनके तट पर॥

[१०]

हे युवको! तुम उन्हीं पूर्वजों
के वंशज उनके हो प्रतिनिधि।
तुम्हीं मान-रक्षक हो उनके
कीर्ति-तरंगिणियों के वारिधि॥
रवि, शशि, उडुगण, गगन, दिशायें,
हैं, गिरि, नदी, मेदिनी जबतक।
निज पैतृक धन स्वतंत्रता को
क्या तुम तज सकते हो तबतक?

[११]

विषुवत्-रेखा का वासी जो
जीता है नित हाँफ हाँफ कर।
रखता है अनुराग अलौकिक
वह भी अपनी मातृभूमि पर॥
ध्रुव-वासी जो हिम में तम में
जी लेता है काँप काँप कर।
वह भी अपनी मातृभूमि पर
कर देता है प्राण निछावर॥

[१२]

तुम तो हे प्रिय बन्धु! स्वर्ग सी
सुखद सकल विभवों की आकर।
धरा शिरोमणि मातृभूमि में
धन्य हुये हो जीवन पाकर॥
तुम जिसका जल-अन्न ग्रहणकर
बड़े हुये लेकर जिसका रज।
तन रहते कैसे तज दोगे?
उसको हे वीरों के वंशज!

[१३]

पर पद-दलित, पर-मुखापेक्षी,
पराधीन, परतंत्र, पराजित।
होकर कहीं आर्य जीते हैं?
पामर, पशु-सम, पतित, पराश्रित॥
तुम्हीं देश के आशा-स्थल हो
तुम्हीं शक्ति सम्पदा तुम्हीं सुख।
जर्जर होकर भी जीवित है
देश तुम्हारा देख देख मुख॥

[१४]

अतुलित धन, अनुपम कुल गौरव,
अविरल शान्ति, देव दुर्लभ सुख।
कुटिल शत्रु ने छीन लिया है
छोड़ दिया है असहनीय दुख॥
सकल दिशायें काँप रही हैं
सहकर अत्याचार भयानक।
घर घर में अनाथ बच्चों का
आर्त्तनाद है हृदय-विदारक॥

[१५]

वृद्धजनों का विधवाओं का
हाहाकार विलाप श्रवणकर।
फट जाता है वज्र हृदय भी
विगलित हो जाता है पत्थर॥
थोड़े ही अवसर में मैंने
देख लिया है घूम घूमकर।
घर घर में इस समय व्याप्त है
केवल चिन्ता दुख अशान्ति डर॥

[१६]

कहीं शान्ति का नाम नहीं है
कहीं नहीं है सुख की संगति।
कहीं न मुँह पर मुस्काहट है
और नहीं पलकों में है गति॥
कोस रही हैं अपनी कोखें
मातायें अति ही अधीर बन।
हाय! नहीं क्यों जनमा उनसे
कोई बालक शत्रु निकन्दन॥

[१७]

देश आत्म-बलिदान तुम्हारा
माँग रहा है आज वीरवर!
दिग्विजयी वीरों के वंशज!
युवको! उठो संगठित होकर॥
एक साथ ही प्रबल तुम्हारा
घनगर्जन हुङ्कार श्रवणकर।
दहल जाय छाती बैरी की
मूर्च्छित वह गिर पड़े धरा पर॥

[१८]

देख तुम्हारा देश-प्रेम उस
गर्वित अरि का उतर जाय मद।
वीर! तुम्हारी ललकारों से
उखड़ जायँ उस तस्कर के पद॥
चकाचौंध हो जाय तुम्हारी
तलवारों की चमक देखकर।
पत्ते सा उड़ जाय तुम्हारे
वायु-वेग में पड़ वह पामर॥

[१९]

जब तक साथ एक भी दम हो
हो अवशिष्ट एक भी धड़कन।
रखो आत्म गौरव से ऊँची
पलकें, ऊँचा सिर, ऊँचा मन॥
एक बूँद भी रक्त शेष हो
जब तक तन में हे शत्रुंजय!
दीन वचन मुख से न उचारो
मानो नहीं मृत्यु का भी भय॥

[२०]

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का
मृत्यु एक है विश्राम-स्थल।
जीव जहाँ से फिर चलता है
धारण कर नवजीवन-सम्बल॥
मृत्यु एक सरिता है जिसमें
श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर नूतन धारण करता है
काया-रूपी वस्त्र यहाकर॥

[२१]

सच्चा प्रेम वही है जिसकी
तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है
करो प्रेम पर प्राण निछावर॥
देश प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें
मनुष्यता होती है विकसित॥

[२२]

जितनी हैं शक्तियाँ मनुज को
प्राप्त हुईं इस जग के भीतर।
उन्हें दान करते रहना ही
है मनुष्य का धर्म यहाँ पर॥
त्रिगुणात्मक है जगत, यहाँ है
कोई नहीं पदार्थ हानिकर।
भला बुरा उनका प्रयोग ही
है सुख दुख का हेतु यहाँ पर॥

[२३]

किसी समय जग बहुत सुखी था
शान्त पवित्र प्रेम से सुन्दर।
मूढ़ जनों के दुरुपयोग से
यह बन गया घोर दुख का घर॥
सदुपयोग से विष पावक भी
हो जाते हैं सुख-उत्पादक।
किन्तु अबुध अनुचित प्रयोग से
कर लेते हैं उन्हें विघातक॥

[२४]

काम क्रोध मद लोभ आदि भी
उचित प्रयोग-कुशल को पाकर।
मिश्रण से अनुकूल गुणों के
हो सकते हैं सुख के आकर॥
दुरुपयोग से सद्गुण कहकर
घोषित सत्य अहिंसादिक व्रत।
हो सकते हैं दुख के कारण
है यह सत्य विज्ञजन-सम्मत॥

[२५]

अत विवेक-तुला पर रखकर
गुण अवगुण को खूब परख कर।
आवश्यकता देख शक्ति का
सद्व्यय करना है श्रेयस्कर॥
केवल बल-प्रयोग पशुता है
केवल कौशल है कायरपन।
शस्त्र शास्त्र दोनों के बल से
विप्र जीतते हैं जीवन-रण॥

[२६]

कुटिल के लिये नीति शस्त्र है,
अवतक केवल शौर्य लगाकर।
प्राप्त किया है हमने अपयश
देश, प्राण, धन, कीर्ति गँवाकर॥
आओ बल कौशल- दोनों से
दुर्मद कुटिल शत्रु को जयकर।
उसकी प्रभुता निज स्वतंत्रता
समरभूमि में लें उससे हर॥

[२७]

युवकों ने इस आवाहन का
दिया तुरत कर्म से उत्तर।
दुख को क्रोध निराशा को जय
की आकांक्षा में परिणत कर॥
एक भाव से प्रेरित होकर
एक लक्ष्य पर दृष्टि लगाकर।
एक ध्यान में जागरूक बन
भेद-भाव को दूर भगाकर॥

[२८]

एक मान्य नेता वसन्त को
करके सारे स्वत्व समर्पण।
हुये एक झण्डे के नीचे
खड़े समस्त युवक योद्धा-गण॥
सुनिपुण नेता से संचालित
युवक मृत्यु भय पर जय पाकर।
टूट पड़े अनिवार्य वेग से
पञ्चानन की भाँति मृगों पर॥

[२९]

किया शत्रु का नाश उन्होंने
जैसे घन को प्रबल प्रभंजन।
जैसे तम को प्रखर दिवाकर
जैसे वन को विकट हुताशन॥
शक्ति युक्ति साधन तत्परता
साहस धैर्य और दृढ़ निश्चय।
जिनमें हो इस जग में उनके
विजयी होने में क्या संशय?

[२०]

युवकों की सेना वसंत के
जय से बारम्बार निनादित।
शत्रुहीन करके स्वदेश को
लौट पड़ी आनन्द विमोहित ॥
रहते थे रण में जनता के
कान लगे परिणाम-भयातुर।
विजय-घोष सुन अमित हर्ष से
भर आया उसका विशाल उर ॥

[२१]

बहुत दिनों पर मिला देश को
ऐसे अनुपम सुख का अवसर।
स्वागत की अनेक किरणों से
उदित हुआ आनन्द-प्रभाकर ॥
नीलम की परात सी पहली
रात दीप-हीरों से सजकर।
राजा-रङ्कमयी जनता ने
की अर्पित वसंत को सादर ॥

[३२]

लौट रहा था राजनगर को
जिस पथ से वसन्त आनंदित।
सारा पथ जन सागर सा था
शशि-दर्शन के लिये तरङ्गित॥
गूँज उठा करता था जय के
तुमुल नाद से बार बार नभ।
कहते थे सब लोग भाग्य से
मिलते हैं ऐसे दिन दुर्लभ॥

[३३]

वहाँ विजय-गीत गा गाकर
बड़े प्रेम से सुमन-वृष्टि कर।
करती थीं सब को उत्साहित
पाने को ऐसे शुभ वासर॥
देख देख स्वागत वसन्त का
बच्चे बूढ़े जोश में भर कर।
थे अपने भविष्य के सुन्दर
स्वप्नों की रचना में तत्पर॥

[३४]

जिनके पतियों ने स्वदेश के
लिये किये थे प्राण-विसर्जन।
परम सुखी थे सफल त्याग से
पुण्यमयी उन सतियों के मन॥
मातायें आशीर्वादों से
वृद्ध हर्ष-जल आँखों में भर।
स्वागत करते थे वसन्त का
बारम्बार प्रौढ जय जय कर॥

[३५]

करता था वसंत जब रण में
क्रुद्ध सिंह सम प्रबल आक्रमण।
सभय भागने लग जाते थे
वैरी छोड़ छोड़ समरांगण॥
जय वसंत की जय कहते थे
विजयोन्मत्त युवक शत्रुंजय।
धीरे से तब वह कहता था
बोलो भाई सुमना की जय॥

[३६]

स्वागत में भी प्रजा-वृन्द के
मुख से जय जयकार श्रवणकर।
वही वाक्य वह दुहराता था
सुमना की स्मृति से आँखें भर॥
केवल साथी युवक जानता
था वसंत का मर्म गूढ़तम।
प्रेम मुग्ध वह हो जाता था
समझ समझ कर भाव मनोरम॥

[३७]

प्रजा और नृप ने वसन्त का
हर्ष-समेत किया अभिनन्दन।
सिंहासन पर उसे बिठाकर
नृप बोला—हे शत्रु निकन्दन॥
धन्य धरा यह राष्ट्र देश यह
ग्राम समाज गोद यह पावन।
ऐसे हैं अवतार तुम्हारे
ऐसे जिसमें कर्म-वीर जन॥

[३८]

लो यह राज्य प्रजा की थाती
तुम्हें सौंपता हूँ हे प्रियवर!
मुझे तुम्हारी प्रजा कहाने
का गौरव हो प्राप्त निरन्तर॥
राजा का यह त्याग देखकर
प्रजा हो गई हर्ष-विमोहित।
धन्य धन्य ध्वनि से जय जय से
बार बार नभ हुआ निनादित॥

[३९]

उसी समय पद-वन्दन कर के
सुमना सम्मुख हुई उपस्थित।
विस्मित हुआ वसन्त यकायक
देख सामने सुख चिर-वाञ्छित॥
किन्तु व्यक्त वह कर न सका कुछ
वाणी से निज हर्ष मनोगत।
जल रेखाओं ने आँखों में
आकर किया प्रिया का स्वागत॥

[४०]

सावधान होकर वसन्त फिर
बोला सब को सम्बोधन कर।
जिसने किया कर्म के पथ में
मुझे धर्म-पालन को तत्पर॥
कई बार दुर्दम्य शत्रु के
दल में मेरे प्राण बचाकर।
जिसने मुझे किया है उपकृत
रहकर रण में साथ निरन्तर॥

[४१]

वह मेरा प्रिय बन्धु कहाँ है?
मैं स्वदेश को उसका परिचय।
देने को अतिही उत्सुक हूँ
वर्णन कर उपकार-समुच्चय॥
प्राणनाथ की सुमधुर वाणी
सुनकर सुमना गद्गद् होकर।
सकुचाकर धीरे से बोली
मैं ही हूँ वह हे प्राणेश्वर!

Printed by K P Dar at the Allahabad Law Journal Press
Allahabad and Published by Pandit R N Tripathi
Hindi Mandir Prayag